मूल अधिकारों में संशोधन के सम्बन्ध में उच्चतम न्यायालय एवं संसद का दृष्टिकोण : एक विश्लेषण

सारांश

मूल अधिकारों के प्रसंग में संसद एवं उच्चतम न्यायालय के सम्बंधों एवं स्थितियों का सार यही है कि संसद को अपनी जागरूकता, कार्यकुशलता तथा नैतिकता का परिचय देते हए नागरिकों के मूल अधिकारों का सम्मान करना चाहिए। उच्चतम न्यायालय का भी यह दायित्व है कि वह संसद तथा कार्यपालिका के कार्यों में अनुचित हस्तक्षेप न करे, किन्तु विधायिक व कार्यपालिका को उनके दायित्वों के निर्वहन के लिए प्रतिबद्ध भी करे। लोकतांत्रिक व्यवस्था का कुशल संचालन इस बात पर निर्भर करता है कि शासन के तीनों अंग– विधायिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका परस्पर अहस्तक्षेप, समन्वय एवं सहयोग के आधार पर अपने–अपने कृत्यों का सम्पादन करें। विधायिका एवं सत्तारूढ़ दल को नागरिकों के मूल अधिकारों को श्रेष्ठ और प्रतिष्ठित मानना चाहिए। संसद एवं न्यायपालिका को मूल अधिकारों के प्रसंग में आपसी मतभेदों को त्यागकर राष्ट्रहित, लोकहित को प्राथमिकता देनी चाहिए। भारत में जनता सर्वोच्च है जो अपनी शक्तियाँ संविधान को सौंपती है। संविधान के माध्यम से शासन सत्ता के विभिन्न अंग अपनो–अपनी शक्तियाँ प्राप्त करते हैं। ऐसे में, शासन के सभी स्तंभों को जनमत एवं संविधान का सम्मान करना चाहिए। विधायिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका को जनता के अधिकतम हितों को सुनिश्चित करने हेतु अधिक प्रासंगिक, उत्तरदायी एवं कर्मठ होना चाहिए।

मुख्य शब्द : बंदी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिशोध, उत्प्रेषण, अधिकार–पृच्छा, न्यायिक पुनर्विलोकन, मूल ढाँचा।

भीमराज महायच
शोध छात्र,
राजनीति विज्ञान विभाग,
शासकीय डूंगर कॉलेज,
राजस्थान

प्रस्तावना

भारत में शासन व्यवस्था मूलतः व्यवस्थापिका, कार्यपालिका व न्यायपालिका द्वारा संचालित होती है। लोकतंत्र के सफल कार्यान्वयन के लिए आवश्यक है कि शासन के तीनों अंग परस्पर सहयोग एवं समरसता से अपने दायित्वों का निर्वहन करें। किन्तु कतिपय ऐसे संवेदनशील विषय हैं, जिनक सम्बंध में संसद और उच्चतम न्यायालय में मतभेद मुखरित हुए हैं। मूल अधिकारों में संशोधन की संसद की शक्ति एक ऐसा ही संवदेनशील विषय रहा है।

भारतीय संविधान में अनुच्छेद 368 के अन्तर्गत संसद को मूल अधिकारों सहित संविधान के किसी भी भाग में संशोधन करने की शक्ति प्राप्त है। किन्तु अनुच्छेद 13 (2) के अन्तर्गत यह प्रावधान है कि संसद ऐसी कोई विधि नहीं बना सकती जो भाग तीन में प्रदत्त मूल अधिकारों का उल्लंघन करती हो। यदि संसद ऐसी कोई विधि बनाती है तो वह मूल अधिकारों के उल्लंघन की मात्रा तक शून्य होगी। अनुच्छेद 32 के अनुसार उच्चतम न्यायालय नागरिकों के मूल अधिकारों के प्रवर्तन हेतु बदी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिशोध, अधिकार–पृच्छा तथा उत्प्रेषण इत्यादि रिटें जारी कर सकता है। अनुच्छेद 13 (2) तथा अनुच्छेद 32 संयुक्त रूप से उच्चतम न्यायालय को 'न्यायिक पुनर्विलोकन' की शक्ति प्रदान करते हैं। न्यायिक पुनर्विलोकन के अन्तर्गत उच्चतम न्यायालय विधायिका एवं कार्यपालिका के कृत्यों की संवैधानिकता की जाँच कर सकता है तथा संविधान तथा मूल अधिकारों के विरूद्ध विधियों एवं कार्यपालिकीय कृत्यों को अवैध घोषित कर सकता है। इस प्रकार संविधान ने उच्चतम न्यायालय को मूल अधिकारों के संरक्षक के रूप घोषित किया है, ताकि उच्चतम न्यायालय मूल अधिकारों के प्रवर्तन को सुनिश्चित कर सके।

उच्चतम न्यायालय की न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति ने जहाँ एक ओर मूल अधिकारों के संरक्षण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है, वहीं दूसरी ओर न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति ने संसद और न्यायपालिका के मध्य गतिरोधों को भी जन्म दिया है।

संविधान लागू होने के पश्चात् से उच्चतम न्यायालय ने मूल अधिकारों में संसद की संशोधन की शक्ति के संदर्भ में गतिशील दृष्टिकोण अपनाया है। 'शंकरीप्रसाद बनाम भारत राज्य, 1951 और सज्जन सिंह बनाम राजस्थान राज्य, 1965 के मामले में न्यायापालिका ने निर्वचन दिया कि संविधान संशोधन अनुच्छेद 13 के अन्तर्गत 'विधि' की परिभाषा के अन्तर्गत नही आता है और संसद मूल अधिकारों में संशोधन कर सकती है। परन्तु गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य, 1967 के बाद में उच्चतम न्यायालय ने अपने पूर्व निर्णय को उल्टते हुए निर्वचन दिया कि संविधान संशोधन अधिनियम 'विधि' की परिभाषा के अर्न्तगत आता है और संसद को मूल अधिकारों में संशोधन करने की शक्ति नही है। किन्तु पुनः एक बार अपने निर्णय को उलटते हुए केशवानन्द भारत बनाम केरल राज्य, 1973 के ऐतिहासिक निर्णय में उच्चतम न्यायालय ने संविधान के मूल ढाँचे की अवधारणा का प्रतिपादन किया। उच्चतम न्यायालय ने स्पष्ट किया कि संसद मूल अधिकारों में संशोधन कर सकती है। मूल अधिकारों में किया गया संशोधन अनुच्छेद 13 के अन्तर्गत विधि की परिभाषा में नहीं आएगा परन्तु संसद मूल अधिकारों में ऐसा कोई संशोधन नहीं कर सकती जो उन पर प्रतिकूल प्रभाव डालता हो या संविधान के मूल ढाँचे को क्षति पहुँचाता हो।

न्यायपालिका द्वारा प्रतिपादित 'मूल ढाँचे' की इस अवधारणा पर कतिपय विधि–विशेषज्ञों एवं संसद के सदस्यों द्वारा आक्षेप किया गया। उनका मत था कि केशवानंद भारती वाद मे 'मूल ढॉचे' की यह विषय–वस्तु विवाद को जन्म देती है। प्रथम, अनुच्छेद 368 में वर्णित संसद की संविधान संशोधन की शक्ति पर कोई प्रतिबंध अधिरोपित नही किये गये है। द्वितीय, यदि यह माना भी जाये कि संसद की संविधायी शक्ति पर कोई प्रतिबन्ध होना चाहिये तो न्यायालय के इस मत के साथ सहमत होना कठिन है कि मूल अधिकारों का परिवर्तन अथवा उल्लंघन हो सकता है परन्तु न्यायिक पुनर्विलोकन का उल्लंघन नही हो सकता जो कि स्वंय मे मूल अधिकारों की ही अनुशंगी है। तीसरा कारण यह भी है कि अनुच्छेद 368 में उल्लिखित 'निरसन' शब्द से यह स्पष्ट है कि संसद द्वारा संविधान के किसी भी भाग का निरसन किया जा सकता है तथाकथित इसमें 'सारवान' तथा 'आधारिक' उपबन्ध भी शामिल है। चतुर्थ कारण यह है कि न्यायालय ने मूल ढांचे की बात अपन निणर्यों में को बारंबार दोहराया है परन्तु मूल ढांचे के मानदण्ड क्या हो, इस संदर्भ में न्यायपालिका मौन है।

संसद के दृष्टिकोण से विश्लेषण से किया जाए तो यह मत उभरकर सामने आता है कि सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थितियों में सुधार हेतु संसद् जो विधि बनाती है, न्यायपालिका उसे अवैध घोषित कर सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक अस्थिरता उत्पन्न कर देती है। उदाहरण के लिए जब न्यायापालिका यह निर्वचन दिया कि मूल अधिकारों में संशोधन हो सकता है तो विधायिका द्वारा अपनी नीतियों का निर्माण इस तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए निर्मित किया गया कि किसी अमुक नीति को कार्यान्वित करने के लिए मूल अधिकारों को संशोधन किया जा सकता है। परन्तु गोलकनाथ वाद में उच्चतम न्यायालय ने मूल अधिकारों को असंशोधनीय बताया। अतः विधायिका ने भी यह दृष्टिकोण अपना लिया कि मूल अधिकार सर्वोच्च है जिसकी कसौटी पर अति आवश्यक लोक कल्याणकारी नीति की अवह्रेलना की जा सकती है। पुनः केशवानंद भारती बनाम केरल राज्यवाद में उच्चतम न्यायालय ने मूल अधिकारों को संशोधनीयता की परिधि के अन्तर्गत ला दिया। इससे विधायिक सहित कार्यपालिका को भी अपने नीति निर्मात्री दृष्टिकोण में परिवर्तन करना पड़ा। इस मत का पुनः आर्विभाव हुआ कि आदर्श एवं अति आवश्यक लोक कल्याणकारी नीति के कार्यान्वयन हेतु मूल अधिकारों को सीमित किया जा सकता है परन्तु इससे संविधान का मूल ढाँचा प्रभावित नहीं होना चाहिए।

विधायिका का यह भी तर्क है कि भारतीय संविधान में विधायी व संविधायी शक्तियां संसद को एकाधिकार एवं अनन्य रूप से सौंपी गई है। किन्तु आधुनिक संदर्भों में लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में न्यायिक पुनर्रावलोकन प्रणाली ने संसद के इस स्वरूप को निःसन्देह संकुचित किया है। इसमें कोई संदेह नही है कि न्यायिक पुनर्रावलोकन की लोकतंत्र मे महत्वपूर्ण भूमिका है परन्तु इस बात को भी स्वीकार करने में भी सन्देह है कि न्यायापालिका इस शक्ति का प्रयोग अपवाद स्वरूप ही करेगी।

किन्तु यदि वास्तविकता पर दृष्टिपात किया जाए तो यह स्पष्ट होता है कि विगत् वर्षो से संसदीय व्यवस्था अनेकानेक दोषों से ग्रस्त रही है। संसद में राजनीतिक हितों का प्राधान्य परिलक्षित होता है। संसदीय गरिमा में पतन, संसदीय समय का दुरूपयोग, राजनीतिक संकीर्णता, दलगत हितों को प्राथमिकता, राजनीतिक अपराधीकरण, संसद सदस्यों में योग्यता का अभाव, भ्रष्टाचार इत्यादि अनेकानेक कारण संसद की छवि को धूमिल करते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि विगत् कुछ वर्षों से संसद अनैतिकता एवं अकार्यकुशलता की परिचायक रही है। ऐसे में नागरिकों के हितों की सुरक्षा हेतु उच्चतम न्यायालय की पहल अनिवार्य प्रतीत होती है। उदाहरणार्थ दिल्ली में सी. एन. जी बसों का संचालन, कार्यस्थल पर महिलाओं के यौन शोषण को रोकना, बच्चों की सुकुमार अवस्था की सुरक्षा कर शोषण से उनकी रक्षा करना, पर्यावरण पदूषण को रोकना इत्यादि अनेक अवसर उत्पन्न हुए हैं जब संसद एवं कार्यपालिका ने इनकी अवह्लेना की। इस परिस्थितियों में उच्चतम न्यायालय ने आगे आकर अपनी कार्यकुशलता का परिचय दिया।

संसद एवं राज्य विधानमण्डलों ने कई बार वोट की राजनीति के लिए न्यायालय के निर्णयों का सरासर उल्लंघन किया है और समाज में जातीय उन्माद को उभार कर देश की एकता एवं अखण्डता पर कुठाराघात किया है। भारत में राजनीतिक नेताओं का स्तर प्रायः निम्न एंव संकीर्ण रहा है। इस स्थिति में न्यायालय द्वारा आगे आकर कुशल एवं कुशाग्र भूमिका निभाना अपेक्षित भी है और अनिवार्य भी है। उच्चतम न्यायालय 'राज्य' द्वारा नागरिकों के मूल अधिकारों के हनन की संभावनाओं को न्यून किया है तथा 'राज्य' के निरंकुश व्यवहार को सीमित कर उन पर मूल अधिकारों एवं संविधान की वरीयता को सुनिश्चित किया है। न्यायिक पुनरावलोकन के माध्यम से उच्चतम न्यायालय शासन–इकाईयों को मर्यादित एवं सांविधानिक सीमा के भीतर रखते हुए संविधान के संरक्षक

की भूमिका निभाई है। समय–समय पर संसद ने अपनी विधायी शक्तियों के प्रयोग में निरंकुशता एवं मनमानेपन का परिचय दिया है। विगत् वर्षों म कई ऐसे उदाहरण भी सामने आए हैं, जब सत्तारूढ़ दल ने अपने बहुमत का दुरूपयोग कर अपने संकीर्ण राजनीतिक हितों को पूरा करने तथा मूल अधिकारों पर अपने बहुमत की इच्छा लादने की चेष्टा की। ऐसे में, उच्चतम न्यायालय ने अपने कुशल भूमिका का निर्वहन कर संसद की सवोच्चता की स्थिति को पनपने से रोकते हुए संविधान की सर्वोच्चता को स्थापित किया।

संदर्भ सूची

1. डी.डी. बसु : इंडियन कांस्ट्टियूशन : एन इन्ट्रोडक्शन, नौंवा संस्करण
2. ब्रजकिशोर शर्मा : भारत का संविधान, नौवां संस्करण
3. जी0 एन0 जोशी : कांस्ट्टियूशन ऑफ इंडिया
4. जी0 एन0 पाण्डेय : भारत का संविधान 45वां संस्करण